बिज़नेस स्टैंडर्ड
वर्ष 12 अंक 45

चुनाव खर्च की समस्या

देशव्यापी स्तर पर हुई छापे की कार्रवाई ने इस बात को उजागर कर दिया है कि देश में चुनाव अभियान किस हद तक (संभवत: अवैध) धन पर निर्भर करते हैं। चुनाव आयोग की विशेष टीम ने अब तक देश भर से जो नकदी, शराब और मादक पदार्थ जब्त किए हैं उनकी कीमत 1,800 करोड़ रुपये तक हो सकती है। यह न केवल अपने आप में एक बड़ी समस्या है बल्कि इसमें दिनोदिन इजाफा भी होता जा रहा है।

अभी मतदान शुरू भी नहीं हुआ है और इसके बावजूद ऐसा प्रतीत होता है मानो 2014 के आम चुनाव के दौरान जो 300 करोड़ रुपये की नकदी जब्त की गई थी, वह आंकड़ा पीछे छूट चुका है। इस चुनाव में अब तक 473 करोड़ रुपये की नकदी जब्त की जा चुकी है और 410 करोड़ रुपये मूल्य का सोना पकड़ा जा चुका है। अकेले तमिलनाडु से 220 करोड़ रुपये मूल्य का सोना जब्त किया गया है। जब्त नकदी के मामले में भी तमिलनाडु 154 करोड़ रुपये के साथ शीर्ष पर है। इस बीच, पंजाब और गुजरात मादक पदार्थों की जब्ती के मामले में शीर्ष पर हैं। अकेले गुजरात से ही 500 करोड़ रुपये मूल्य का मादक पदार्थ जब्त किया गया है। चुनाव आयोग ने जो राशि जब्त की है, उसके अलावा भी आयकर विभाग समेत विभिन्न सरकारी एजेंसियों ने भी काफी मात्रा में नकदी जब्त की है। हाल के दिनों में 60 से ज्यादा छापे मारे गए। सेंटर फॉर मीडिया स्टडीज के अनुमान के मुताबिक इन चुनावों में कुल मिलाकर 50,000 करोड़ रुपये से अधिक की राशि खर्च हो सकती है। यह राशि 2016 के अमेरिकी राष्ट्रपति चुनाव में खर्च हुई राशि से अधिक है।

ध्यान रहे कि निर्वाचन आयोग ने चुनाव में हर प्रत्याशी के व्यय की सीमा तय कर रखी है लेकिन उसका हमेशा उल्लंघन होता है। चुनाव आयोग ने प्रत्याशियों के लिए 50 से 70 लाख रुपये के व्यय की सीमा तय की है। परंतु यह निरर्थक है क्योंकि राजनीतिक दलों के व्यय की सीमा तय नहीं की गई है। तमिलनाडु में द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम समेत कुछ विपक्षी दलों ने यह दावा भी किया है कि छापे राजनीति से प्रेरित हैं। कुछ मामलों को अपवाद मानते हुए भी यह ऐसी व्यवस्थागत समस्या बन चुकी है जिसे हल करना आवश्यक है। गत वर्ष प्रकाशित-कॉस्ट्स ऑफ डेमोक्रेसी: पॉलिटिकल फाइनैंस इन इंडिया, में देवेश कपूर और मिलन वैष्णव समेत राजनीति विज्ञानियों के एक समूह ने देश में चुनावी फंडिंग की समस्या की जांच की और उन्हें जो नतीजे मिले वे परेशान करने वाले थे।

चुनाव खर्च का बोझ वहन कर सकने वाले प्रत्याशियों की बढ़ती तादाद का अर्थ यह है कि लोकसभा के स्वरूप में ऐसा बदलाव आ रहा है कि वहां अमीरों की तादाद बढ़ रही है। उदाहरण के लिए 2014 की लोकसभा में 82 फीसदी उम्मीदवारों के पास एक करोड़ रुपये से अधिक संपत्ति थी। राजनीति विज्ञानियों ने यह भी पाया कि इस प्रकार के व्यय को वोट के बदले नोट के रूप में देखना सरलीकरण होगा। बल्कि यह तोहफे देने और मूलभूत चुनावी मशीनरी पर व्यय करने जैसा है।

जरूरत इस बात की है कि व्यय को नियंत्रित किया जाए और पार्टी स्तर पर नकदी जुटाने को सीमित किया जाए तथा पार्टियों द्वारा अपने प्रत्याशियों को की जाने वाली फंडिंग को अधिक पारदर्शी बनाया जाए। इससे प्रत्याशियों की खुद की फंडिंग पर निर्भरता कम होगी। मौजूदा सरकार के बेनामी चुनावी बॉन्ड इसमें मददगार नहीं हैं। प्रोफेसर कपूर और डॉ. वैष्णव का सुझाव है कि व्यापक सहमति की आवश्यकता है जहां धन जुटाने वाले सभी पक्ष शमिल हों और पैसा डिजिटल तरीके से जुटाया जाए। राजनीतिक दलों का अंकेक्षण तृतीय पक्ष करे। बदले में चुनावों के वास्तविक खर्च के हिसाब से थोड़ी ढील दी जाए और चुनावों में सरकारी फंडिंग की व्यवस्था लागू की जाए।

अजय मोहंती

चुनावों का बाजार पर नहीं पड़ेगा कोई असर!

चुनावों के नतीजों के बारे में कोई पूर्वानुमान लगाना मुश्किल होने के साथ ही चार अन्य कारणों से ऐसा होने की संभावना कम नजर आ रही है। बता रहे हैं **नीलकंठ मिश्रा**

इन चुनावों के बारे में आपको क्या लगता है? इन दिनों हरेक निवेशक बैठक में यह सवाल जरूर उछलता है। आम तौर पर मैं इसी के साथ अपनी बात शुरू करता हूं कि चुनावों का बाजारों पर कोई दीर्घकालिक असर नहीं पड़ता है। अगर आप नतीजे आने के छह महीने पहले और बाद के दौरान सेंसेक्स के चार्ट पर नजर डालें तो स्थिति साफ हो जाएगी। दोनों स्थितियों में बाजार की दिशा में कोई बदलाव नहीं आया। भले ही 2004 के चुनावी नतीजे आने के दिन बाजार में काफी गिरावट आई थी लेकिन बहुत जल्द पुराना रुख बहाल हो गया। वास्तव में, चुनावी नतीजों के इर्दगिर्द खासी उठापटक होने को लेकर निवेशकों की आशंकाओं के बावजूद पिछले छह में से चार चुनावों में खास उठापटक नहीं देखी गई थी। उन चुनावों का बाजार पर कोई दीर्घकालिक असर नहीं होना एक आकलन भर है और किसी विश्लेषण का नतीजा नहीं है। विश्लेषण-परक मसौदे की सटीकता एवं पूर्वग्रह को लेकर चर्चा की जा सकती है लेकिन एक आकलन पर बहस करना मुश्किल है।

फिर मैं चुनावी नतीजों के अप्रत्याशित होने वाला पहलू उनके सामने रखता हूं, यह दिखाने के लिए कि नतीजों के पहले कोई भी अनुमान लगाना पेचीदा हो सकता है। पिछले चुनावों में, न केवल ओपिनियन पोल पूर्वानुमान चुनावों के नतीजों से काफी अलग रहे हैं बल्कि उनकी गलती का मार्जिन भी समय के साथ बढ़ता गया है। जहां 1998 औ 1999 में गलती का मार्जिन 10-20 सीटों का था, वहीं वर्ष 2014 में यह मार्जिन बढ़कर करीब 100 सीटों तक पहुंच गया। ओपिनियन पोल से संभावित नतीजों के बारे में एक निश्चित रुझान मिलने की धारणा के उलट चुनाव-विश्लेषक खास राजनीतिक दलों के लिए काम करते नजर आते हैं। कुछ विश्लेषक दसेक हजार लोगों से बातचीत कर किसी राज्य में जीती जा सकने वाली सीटों के बारे में अनुमान जताते हैं। सीटों के दायरे का अनुमान कितना भी असुविधाजनक हो लेकिन वे हकीकत के करीब होते हैं।

आखिरकार चुनावी नतीजे केवल मतदाताओं की पसंद पर ही निर्भर नहीं होते हैं, मतदान प्रतिशत का भी इसमें योगदान होता है। मसलन, बिहार के कुछ निर्वाचन क्षेत्रों में यह देखने को मिला कि पुरुष मतदाताओं में से केवल 30 फीसदी ने ही मताधिकार का इस्तेमाल किया जबकि ऐसा करने वाले महिला मतदाताओं की संख्या 70 फीसदी थी। केरल की तरह बिहार से भी बड़ी संख्या में लोग अब पश्चिम एशिया के देशों में कामकाज के सिलसिले में जाने लगे हैं और पुरुषों के मतदान प्रतिशत में आई गिरावट की एक वजह यह भी है। इसी तरह चुनावों के दौरान सुरक्षा के बेहतर इंतजाम होने से भी महिलाएं अब अधिक संख्या में मतदान के लिए निकलने लगी हैं। हालांकि इस पहलू पर अध्ययन किया जाना बाकी है कि पुरुषों की तुलना में महिलाएं जातिगत आस्था के प्रति कम निष्ठावान होती हैं। इसके अलावा कुछ लोकप्रिय नेता और दल किसी खास क्षेत्र में पड़ने वाले मतों का अच्छा हिस्सा हासिल कर लेते हैं, भले ही राज्य स्तर पर उन्हें मिलने वाले कुल मतों की संख्या अधिक न हो। एक चुनाव अनुमान लगाने वाला व्यक्ति ऐसी स्थिति में पूर्वानुमान का कौन सा ढांचा तैयार करेगा? उसके लिए दोनों पहलुओं को अपने विश्लेषण में शामिल करना काफी चुनौतीपूर्ण होगा।

हम उन चार कारणों पर गौर करेंगे जिनकी वजह से बाजारों पर चुनावी नतीजों का कोई असर नहीं पड़ना चाहिए। पहला, वर्ष 1991 के बाद से ही केंद्र ने अपनी आर्थिक मौजूदगी को कम किया है और अब अधिकांश बड़े सुधारों को राज्यों के स्तर पर अंजाम देने की जरूरत होती है लेकिन राज्यों में चुनाव का वक्त अलग होता है। संवैधानिक रूप से राज्य सरकारों को जमीन, श्रम, बिजली वितरण, पर्यावरण और नगरीय प्रशासन की शक्तियां दी गई हैं। ये कंपनियों के लिए सबसे ज्यादा मायने रखने वाले मुद्दे हैं। राज्यों में कुल मिलाकर केंद्र की तुलना में चार गुना कर्मचारी नियुक्त होते हैं और केंद्र की तुलना में राज्य सामूहिक तौर पर करीब 90 फीसदी अधिक रकम खर्च करते हैं। पिछले वर्षों में लोकसेवक राज्य छोड़कर केंद्रीय प्रतिनियुक्ति पर जाने में आनाकानी करते दिखे हैं। उसकी एक वजह केंद्र सरकार की विवेकाधीन शक्तियों में आई कमी भी है।

दूसरा, भारत में राजनीतिक दलों की विचारधारा के बीच फर्क आर्थिक न होकर असल में सामाजिक हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि दलों के बीच कोई मतभेद ही नहीं हैं। मसलन, राजकोषीय अनुशासन पर राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन (राजग) सरकारों ने दूसरों की तुलना में अधिक अनुशासन दिखाया है। वैसे संकट आने पर संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन (संप्रग) और तीसरे मोर्चे की सरकारों ने भी राजकोषीय मजबूती की दिशा में कोशिशें की हैं और राजग ने भी राजनीतिक रूप से जरूरी होने पर खैरातें बांटी हैं। सबसे बड़ी बात, सभी दलों को संस्थागत बदलाव लाते समय सख्त नौकरशाही से भी निपटना होता है।

तीसरा, अर्थव्यवस्था और बाजार दोनों एक नहीं है। बाजार के मुख्य संकेतकों में शामिल कंपनियों का आधे से अधिक राजस्व भारत से संबंधित नहीं होता है। आईटी सेवाएं, फार्मा और ऑटो के अलावा कलपुर्जे बनाने वाली कंपनियां मुख्यत: निर्यात-केंद्रित होती हैं। धातु एवं पेट्रो-रसायन क्षेत्रों में भी मुनाफा वैश्विक रुझानों से जुड़े होते हैं, भले ही बड़े पैमाने पर घरेलू उपभोग ही होता है। इन गतिविधियों पर सरकार बदलने से भी फर्क नहीं पड़ने वाला है। भारत से जुड़ा राजस्व मुख्यत: निजी बैंकों और उपभोग-केंद्रित फर्मों में ही होता है। निजी क्षेत्र के बैंकों की बाजार हिस्सेदारी में स्थायित्व होने से उन पर भी सत्ता परिवर्तन का असर पड़ने के आसार नहीं हैं।

चौथा, भारतीय इक्विटी बाजार में 40 फीसदी से अधिक हिस्सेदारी विदेशी निवेशकों के पास है और उन्हें बाजार से निकलने एवं आने की पूरी आजादी होती है। उनका नजरिया वैश्विक स्तर पर निवेश किए जा सकने लायक अन्य संपत्तियों से प्रभावित होता है। मसलन, निफ्टी में आई हालिया तेजी के बारे में यह मत रहा है कि अस्थिर सरकार आने की आशंका कम होने से ऐसा हुआ है लेकिन इसकी बड़ी वजह विदेशी निवेशकों की नजर में सुरक्षा भाव बढ़नी रही। भारत में दो महीने के दौरान प्रवाह रिकॉर्ड 7 अरब डॉलर पर पहुंच गया क्योंकि भारतीय अर्थव्यवस्था अपेक्षाकृत पृथक मानी जाती है। अमेरिका में सॉवरिन बॉन्ड प्रतिफल कम होने से भारतीय प्रतिभूतियों का महंगा मूल्यांकन कम हो गया है।

वर्ष 1996 के बाद से चुनावों के करीब बाजार परिदृश्य का अध्ययन करने पर कई दूसरी बातें भी पता चलती हैं: एशियाई एवं रूसी संकट, पोकरण परीक्षण के बाद लगे प्रतिबंध, डॉटकॉम बुलबुले का बनना और फूटना, वैश्विक अर्थव्यवस्था में 2004-08 के दौरान तेजी का रुख और वित्तीय संकट से उबरना।

हालांकि छोटी बाजार पूंजी वाले स्टॉक जैसे कुछ बाजार हिस्से चुनावी नतीजे से प्रभावित हो सकते हैं। मिडकैप और स्मॉलकैप का अर्थव्यवस्था से अधिक संपर्क होता है, घरेलू स्वामित्व अधिक होता है और कारोबार में तरलता कम होने से वे बाजार धारणा में बदलाव के शिकार जल्द हो जाते हैं।

राजनीतिक रुझानों और परिदृश्य के बारे में चर्चा करना दिलचस्प है, लेकिन 23 मई को चुनावों के नतीजे आने के बाद के हालात पर नजर रखना समझदारी होगी।

(लेखक क्रेडिट सुइस की एशिया-प्रशांत एवं भारत रणनीति के सह-प्रमुख हैं)

भारतीय कारोबार जगत में नई पीढ़ी बनाम पुरानी पीढ़ी

जिंदगीनामा

कनिका दत्ता

भारत दुनिया के सबसे युवा देशों में से एक है। इसकी आबादी के आधे से थोड़ा कम हिस्सा महिलाओं का है। फिर भी भारतीय कंपनी जगत के बारे में एक उल्लेखनीय पहलू है। इसका शीर्ष नेतृत्व इन जनांकिकीय पक्षों को नहीं दर्शाता है।

नवीनतम बिज़नेस स्टैंडर्ड 1000 सर्वेक्षण में राजस्व के लिहाज से देश की 10 शीर्ष कंपनियों की सूची पर फौरी नजर डालें तो भारतीय कारोबार के बारे में एक उपहासजनक विवरण ही पता चलता है कि यह पुराने लोगों का ही क्लब है। इन अग्रणी कंपनियों में शामिल पांच निजी कंपनियों में से कोई भी सीईओ या कार्यकारी चेयरमैन 45 साल से कम उम्र का नहीं है। इस आकलन में सार्वजनिक कंपनियों को बाहर रखने की वजह यह है कि वे कॉर्पोरेट प्रबंधन के मान्य तरीकों में अधिक यकीन नहीं करती हैं। इस समूह में सबसे युवा सदस्य टीसीएस के सीईओ एवं प्रबंध निदेशक राजेश गोपीनाथन हैं। 48 साल के गोपीनाथन को समूह के सबसे युवा सीईओ में से एक बताया गया है। इस समूह के सबसे वरिष्ठ सदस्य रिलायंस इंडस्ट्रीज के चेयरमैन एवं प्रबंध निदेशक मुकेश अंबानी (61 वर्ष) हैं।

इस आकलन में लार्सन ऐंड टुब्रो (एलऐंडटी) समूह के चेयरमैन ए एम नाइक जैसे प्रभावशाली लोगों को बाहर रखा गया है। अब 77 साल के हो चुके नायक वर्ष 2017 में 75 साल की उम्र में कार्यकारी पद से अलग हो गए थे लेकिन शायद ही किसी को अचरज हो कि एलऐंडटी और माइंडट्री के बीच जारी अधिग्रहण विवाद में उनकी ही आवाज सुनी जा रही है। टाटा समूह के मानद चेयरमैन रतन टाटा भी 81 साल की उम्र होने के बावजूद समूह के भीतर सर्वाधिक प्रभावी शख्सियत हैं। टाटा ने ही 46 साल के साइरस मिस्त्री को अपना उत्तराधिकारी बनाया था लेकिन मतभेद गहराने के बाद समूह के पुराने अधिकारी एन चंद्रशेखरन (55 साल) को कमान सौंप चुके हैं। टाटा ने एक बार कहा था कि 'सक्रिय रहने के लिए मुझे बोर्ड में मौजूद रहना जरूरी नहीं है।'

अगर बड़ी कंपनियों में युवा प्रबंधकों की मौजूदगी एक प्रीमियम है तो महिलाएं लगभग अदृश्य ही होती हैं। सभी बड़ी कंपनियों ने बोर्ड में महिला सदस्य रखने की कानूनी अनिवार्यता के मद्देनजर एक महिला निदेशक नियुक्त किया हुआ है लेकिन कई छोटी कंपनियां इस प्रावधान का पालन नहीं करती हैं। लेकिन वरिष्ठ प्रबंधन टीम के भीतर महिलाओं को ढूंढ पाना खासा मुश्किल है और इन कंपनियों में परामर्शदाता स्तर पर तो कोई भी महिला नहीं दिखी। उम्र और लिंग की तस्वीर निचले स्तर पर भी खास नहीं बदलती है। देश की शीर्ष 50 कंपनियों में से किसी भी कंपनी में कोई महिला सीईओ या चेयरमैन के पद पर नहीं है और वरिष्ठ प्रबंधन स्तर पर भी उनकी संख्या बेहद कम है।

इन बड़ी कंपनियों के बीच साझा विभाजक बिंदु यह है कि वे अधिकांशत: पुराने दौर के विनिर्माण कारोबार से ही जुड़ी हैं। केवल टीसीएस, इन्फोसिस और रिलायंस जियो ही थोड़ा अलग है। ऐसे में ई-कॉमर्स कंपनियों के अपेक्षाकृत युवा कर्ताधर्ताओं से उम्रदराज दिग्गजों की तुलना करना बनता है। सचिन बंसल (42), उनके पूर्व साझेदार बिन्नी बंसल (37), रितेश अग्रवाल (26), भवीश अग्रवाल (33) और विजय शेखर शर्मा (40) युवा कारोबारियों के प्रतिनिधि हैं। इस श्रेणी में भी कोई महिला नहीं दिखाई देती है।

इन संस्थापकों और उनकी कंपनियों को आर्थिक जगत की खबरें देने वाले मीडिया में भी अनुचित रूप से प्रचार मिलता है। इसकी वजह यह है कि इन नए उद्यमियों के भीतर सही मायने में 'हमारे जैसे लोग' वाली संस्कृति नजर आती है। वे सूट-बूट अवतार में नहीं दिखाई देते हैं और शायद ही कभी महंगे बिज़नेस क्लब या उद्योग संगठनों के जमावड़े में नजर आते हैं। लेकिन अपनी कंपनियों में वॉलमार्ट, एयरबीएनबी या अलीबाबा जैसे वैश्विक दिग्गजों के निवेश करने पर उन्हें जबरदस्त कमाई हो जाती है।

दिलचस्प ढंग से नए एवं पुराने कारोबार के बीच उम्र अंतराल उस समय अधिक नजर आता है जब नए निवेशक के आने के बाद उस कंपनी पर नियंत्रण बनाए रखने की बारी आती है। नई पीढ़ी इस मामले में अपेक्षाकृत कम भावुक या अधिक व्यावहारिक नजर आती है। वॉलमार्ट को बड़ी हिस्सेदारी बेचने के बाद सह-संस्थापक सचिन बंसल ने फ्लिपकार्ट से अलग होकर दूसरे कारोबार में हाथ आजमाना पसंद किया है। हालांकि उनके साथी बिन्नी बंसल फ्लिपकार्ट के साथ ही समूह सीईओ के तौर पर जुड़े रहे और नए मालिकों के मातहत काम करने के लिए भी तैयार थे। लेकिन निजी स्तर पर कदाचार के आरोप लगने के बाद उन्हें फ्लिपकार्ट से अलग होना पड़ा। ओयो के रितेश अग्रवाल को भी इंडिगो एयरलाइंस से आए आदित्य घोष के साथ काम करने में कोई दिक्कत नहीं है।

अब इसकी तुलना जेट एयरवेज के नरेश गोयल से कीजिए। अपनी एयरलाइन को संकट में डालने के बाद 69 वर्षीय गोयल कुर्सी से तब तक चिपके रहे जब तक कि गुस्साए कर्जदारों ने उन्हें बाहर नहीं कर दिया और उनकी हिस्सेदारी भी आधी कर दी। माइंडट्री के सह-संस्थापकों सुब्रत बागची (62) और कृष्णकुमार नटराजन (62) ने एलऐंडटी की तरफ से अधिग्रहण प्रस्ताव रखे जाने पर हास्यास्पद झुंझलाहट दिखाई थी। अपेक्षाकृत युवा एस्सार के प्रशांत रुइया (50) एस्सार स्टील को दोबारा अपने नियंत्रण में लेने के लिए तमाम गुणा-गणित कर रहे हैं जबकि यह कंपनी दिवालिया प्रक्रिया का हिस्सा बन चुकी है।

पुराने दौर के उद्यमियों ने एक ऐसे परिवेश में काम किया है जहां प्रबंधकीय नियंत्रण को शाश्वत मूल्य माना जाता था। लेकिन अब उन्हें नए दौर की कारोबारी दुनिया के बदलाव-चक्र को समझना होगा जिसमें स्वामित्व परिवर्तनशील है और अपने वजूद को कभी भी हल्के में नहीं लिया जा सकता है। अगर उन्होंने युवा कार्यकारियों को नियंत्रण सौंप दिया होता तो वे यह सबक पहले ही सीख लिए रहते।

कानाफूसी

नियम भंग

वर्ष 2014 के लोकसभा चुनाव के दौरान नरेंद्र मोदी और तत्कालीन पार्टी अध्यक्ष राजनाथ सिंह को भाजपा की जोड़ी नंबर एक के रूप में प्रस्तुत किया जाता था। खासतौर पर उत्तर प्रदेश में ऐसा किया जाता था जो कि सिंह का गृह प्रदेश है। अगले पांच वर्ष में अधिकांश पार्टी कार्यक्रम जहां मोदी और पार्टी के मौजूदा अध्यक्ष अमित शाह मौजूद रहे और उन्होंने भाषण दिया, वहां पार्टी के अन्य नेताओं को बोलने का अवसर शायद ही मिला हो। सोमवार को पार्टी का चुनावी घोषणापत्र जारी करने के लिए आयोजित कार्यक्रम में यह नियम भंग होता नजर आया। इस अवसर पर जिन लोगों ने अपनी बात कही उनमें सिंह भी शामिल थे। सिंह को घोषणापत्र का मसौदा तैयार करने वाली समिति का अध्यक्ष बनाया गया था। सुषमा स्वराज और अरुण जेटली ने भी अपनी बात रखी। केवल नितिन गडकरी नजर नहीं आए। जानकारी के मुताबिक वह चुनाव प्रचार में व्यस्त थे।

साफ बदलाव

भारतीय जनता पार्टी (भाजपा) ने अपने चुनावी घोषणा पत्र को संकल्प पत्र का नाम दिया है। इस घोषणा पत्र की अगर 2014 के घोषणा पत्र से तुलना की जाए तो कई दिलचस्प अंतर देखने को मिलते हैं। पार्टी के 2014 के घोषणा पत्र के एक पृष्ठ पर जहां अटल बिहारी वाजपेयी, लालकृष्ण आडवाणी, मुरली मनोहर जोशी और राजनाथ सिंह जैसे नेताओं को भी प्रमुखता से जगह दी गई थी, वहीं पहले पन्ने पर वसुंधरा राजे, रमन सिंह, शिवराज सिंह चौहान, अरुण जेटली, मनोहर पर्रिकर और सुषमा स्वराज जैसे समान कद के नेताओं के बीच मोदी को प्राथमिकता प्रदान की गई थी। वहीं 2019 के घोषणापत्र में पहले पन्ने पर केवल और केवल मोदी की तस्वीर नजर आ रही है।

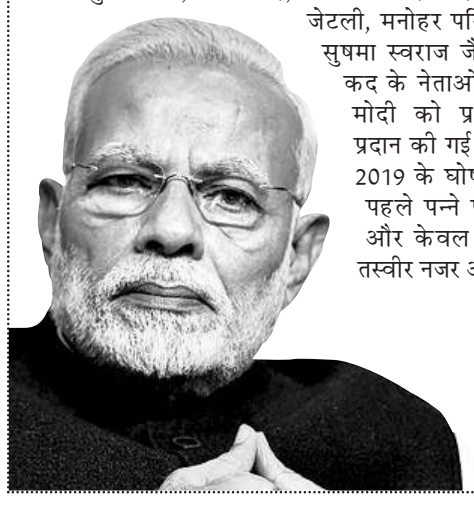

आपका पक्ष

नेताओं पर विकास के लिए लगे कर

न्यूनतम आय योजना (न्याय) के लिए राशि जुटाने हेतु अमीर वर्ग पर 2 प्रतिशत का कर लगाने का परामर्श दिया गया है जबकि अमीर वर्ग के लोग पहले से ही आयकर चुका रहे हैं। न्याय योजना के वास्ते धन जुटाने के लिए सांसदों, विधायकों से कर लेना चाहिए क्योंकि इन्हें मिलने वाले वेतन तथा सुविधाओं पर कोई कर नहीं लगता है। एक सांसद को हर माह 2.7 लाख रुपये वेतन एवं सुविधाएं मिलती है। देश में करीब 540 सांसद हैं और हर वर्ष करोड़ों रुपये वेतन पर खर्च होता है। इसके अलावा देश में हजारों विधायक हैं इनसे भी कर लिया जा सकता है। उन किसानों से भी कर लेना चाहिए जिनके पास बड़े-बड़े खेत हैं। इससे सरकार को अधिक से अधिक कर राजस्व मिलेगा और विकास योजनाओं को भरपूर राशि मिल सकेगी। अत: सरकार को इस पर विचार करना चाहिए।

घेवरचंद गोदीका, जयपुर

कांग्रेस अध्यक्ष राहुल गांधी ने चुनावी घोषणापत्र में न्यूनतम आय देने की बात कही है

रोजगार सृजन करने की जरूरत

लोकसभा चुनाव के मद्देनजर वर्तमान आर्थिक स्थिति में कांग्रेस अध्यक्ष राहुल गांधी द्वारा न्यूनतम आय का वादा किया जाना गलत लगता है। न्यूनतम आय का वादा कर गरीबों को बैसाखी देने के बजाय रोजगार देने का वादा कर उन्हें जमीन से मजबूत बनाना चाहिए। न्यूनतम आय प्रदान करने से देश का राजकोषीय घाटा और बढ़ जाएगा। अत्यंत गरीबी रेखा में वे लोग आते हैं जिनकी आय प्रतिदिन 2 रुपये से कम है तथा जिनकी संख्या देश में लगभग 7 करोड़ है। अत: ऐसा करना देश के बहुसंख्यक के लिए उचित नहीं है। ऐसा करना गरीबों के लिए दीर्घावधि के लिए लाभदायक नहीं होगा, जब तक न्यूनतम आय की राशि बहुत बड़ी न हो और ऐसा करना देश के लिए अत्यंत घातक है। न्यूनतम आय योजना को गरीबों तक पहुंचाने के लिए सभी मौजूदा सब्सिडी एवं कल्याणकारी योजनाओं को समाप्त करना होगा। ऐसे कदम उठाकर कोई भी सरकार गरीबों के खिलाफ नहीं होना चाहेगी और इतिहास में कोई भी कल्याणकारी योजना कभी समाप्त नहीं हुई है। इसलिए यह योजना देश के लिए अतिरिक्त बोझ ही साबित होगी। अत: गरीबों के लिए रोजगार सृजित करके देश और देश के गरीबों का भला हो सकता है।

चंदन केशरी, जमशेदपुर

लोकलुभावन वादों की होड़ मची

चुनाव से पहले गरीबों को लुभाने के लिए होड़ मची है। भाजपा सरकार ने बजट में गरीब किसानों को हर साल 6,000 रुपये देने का ऐलान किया था। इसके बाद अब कांग्रेस ने बड़ा दांव चला और गरीबों को हर साल 72,000 रुपये देने का वादा किया है। सवाल यह उठता है कि कांग्रेस को इस वादे से कितना फायदा मिलेगा। क्या चुनाव में वह बड़ा उलटफेर कर पाएगी। सवाल यह भी है कि योजना कितना व्यावहारिक होगी। कांग्रेस की न्याय योजना के तहत गरीबों को सालाना 72,000 रुपये मिलेंगे। इसके तहत 20 फीसदी गरीबों को न्यूनतम आय की गारंटी का लाभ मिलेगा। पांच करोड़ परिवार और 25 करोड़ लोगों को इस योजना का लाभ मिलेगा। न्यूनतम आय योजना से बेशक रातोरात गरीबी दूर नहीं होगी लेकिन यह पासा पलटने वाली योजना साबित हो सकती है।

पाठक अपनी राय हमें इस पते पर भेज सकते हैं : संपादक, बिजनेस स्टैंडर्ड लिमिटेड, 4, बहादुर शाह जफर मार्ग, नई दिल्ली - 110002. आप हमें ईमेल भी कर सकते हैं : lettershindi@bsmail.in उस जगह का उल्लेख अवश्य करें, जहां से आप ईमेल कर रहे हैं।